कृत, कारित और अनुमोदन में से अधिक पाप किसमें?

आचार्य श्री नानेश

पापक्रिया स्वयं करना, दूसरों से कराना एवं पापक्रिया करने वाले का अनुमोदन करना- इनमें व्यक्ति पाप का भागी अपने भावों के अनुसार होता है। कभी स्वयं सावद्यक्रिया करने की अपेक्षा, दूसरों से कराने में एवं कभी अनुमोदन में अधिक पाप हो सकता है। श्रमण के पंच महाव्रत हों या श्रावक के बारह व्रत उनमें कृत, कारित एवं अनुमत का उल्लेख आता है। आचार्य श्री नानेश की कृति 'जिणधम्मो' से संकलित इस लेख में इन त्रिविध करण पर सुन्दर विवेचन समुपलब्ध है।

-सम्पादक

श्रावक प्रायः दो करण, तीन योग से व्रत ग्रहण करता है। जो गार्हस्थ्य जीवन के दायित्व से हटकर प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक का दायित्व ले लेता है, वह तीन करण, तीन योग से भी व्रत ग्रहण कर सकता है। परन्तु जिस पर अभी गृहस्थाश्रम का भार है वह तीन करण, तीन योग से त्याग नहीं कर सकता। हाँ, वह स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्य वध का तीन करण, तीन योग से त्याग कर सकता है, क्योंकि वहाँ तक कोई मनुष्य पहुँच ही नहीं सकता। अन्य स्थितियों में औसत श्रावक दो करण तीन योग से ही हिंसा, असत्य आदि पापों का त्याग कर सकता है। अनुमोदना का त्याग वह कर नहीं सकता, क्योंकि उसे कई ऐसे लोगों से भी अपना रिश्ता नाता रखना पड़ता है जो माँसाहारी हों अथवा अन्य पापों का त्याग न किये हुए हों। उसके परिवार में भी कोई ऐसा व्यक्ति हो तो उसके साथ उसे रहना पड़ता है। इसलिये संवासानुमति और मनसानुमति दोनों प्रकार की अनुमति की छूट वह रखता है। हालांकि वह अपने सम्बन्धी को वचन से और काया से किसी पाप की अनुमति नहीं देता, किन्तु उसके साथ रहने, परिचित होने या उसके सम्बन्धी होने के नाते उसकी मूक अनुमति तो हो ही जाती है। वह स्वयं स्थूल हिंसा आदि नहीं करता, दूसरों से भी नहीं कराता, किन्तु गार्हस्थ्य का त्यागी न होने के कारण उसने अपने परिवार से ममत्व भाव का छेदन नहीं किया है, अतः परिवार में पुत्र-पौत्र या कोई परिजन हिंसादि करता हो तो वह उसे न तो सहसा स्वयं छोड़ सकता है, न उसके साथ परिचय का भी सहसा त्याग कर सकता है।

यद्यपि गृहस्थ श्रावक अपने साथ रहने वाले पुत्र-पौत्रादि को हिंसादि करने का कहता नहीं, न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसादि करवाता है तथापि उनके साथ रहने के कारण उनके द्वारा की गई हिंसादि से संसर्ग दोष ही नहीं लगता, कभी-कभी उसे गृहस्थ सम्बन्धी कार्य के लिये प्रेरणा भी देनी पड़ती है। उदाहरणार्थ- दो करण तीन योग से व्रत स्वीकार करने वाले ने किसी से कहा- उठो, भोजन कर लो। किन्तु खाने वाला राज्याधिकारी है और अभक्ष्य भोजी है, उसे वह सात्त्विक भोजन खिलाकर अपनी ओर मोड़ भी सकता है। इसी प्रकार कोई राज्याधिकारी है, वह उक्त श्रावक के यहाँ ठहरा है, भोजन करने के लिए वह स्वयं होटल में जाकर अभक्ष्य पदार्थ खाता है, या अपेय पदार्थ पीता है। अब अगर वह श्रावक उसके साथ सर्वथा सम्बन्ध तोड़ ही देता है तो क्लेश वृद्धि की संभावना है। सम्बन्ध रखकर तो उसे सन्मार्ग पर लाया भी जा सकता है। सम्बन्ध तोड़ देने पर तो उसका अधिक पापी होना संभव है।

इस प्रकार अनुमोदन का त्याग करने में श्रावक के लिये अड़चन तो आती है, लेकिन व्यावहारिक कार्य रुकते नहीं और अहिंसक श्रावक के सम्पर्क से हिंसक व्यक्ति भी सुधर जाता है।

मगध के महामंत्री अभयकुमार ने काल सौकरिक के पुत्र से मित्रता का संबंध जोड़ा था। अभयकुमार श्रावक था। वह जानता था कि इसका पिता कसाई है और कसाईपन छोड़ नहीं सकता, फिर भी काल सौकरिक के पुत्र में जीवन सुधार की लगन देखकर उससे संबंध कायम रखा। परिणामस्वरूप उसका जीवन सुधर गया।

उपासकदशांग सूत्र में महाशतक श्रावक का वर्णन है। उसकी तेरह पत्नियों में से रेवती अत्यन्त क्रूर थी। उसने अपनी सौतों को विष प्रयोग और शस्त्र प्रयोग से मार डाला था। रेवती जैसी क्रूर स्त्री मिल जाने पर व्रतधारी श्रावक क्या कर सकता है? जरा गहराई से सोचने का विषय है। वर्तमान युग में प्रायः अविवेकी लोग ऐसी स्त्री को या तो मार डालते हैं या घर से बाहर निकाल देते हैं या उसे जाति से बहिष्कृत कर देते हैं। फिर चाहे वह विधर्मी बनकर या दुराचारिणी बनकर उससे भी अधिक पापकर्म क्यों न कमाए। मगर महाशतक दूरदर्शी श्रावक था। उसे रेवती की सब करतूतों का पता था, परन्तु उस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार महाशतक ने न तो उसे मारा और न उसे घर से बाहर निकाला। महाशतक ने सोचा होगा कि रेवती हिंसक होते हुए भी व्यभिचारिणी नहीं है। मेरे प्रति इसकी भक्ति है। मैं इसका वध तो कर ही नहीं सकता, क्योंकि मैंने दो करण तीन योग से हिंसा का त्याग किया है। अगर इसे घर से निकाल दिया गया तो संभव है यह व्यभिचारिणी बन जाय और अधिक हिंसक भी बन जाय। तब तो दोनों कुलों को बदनाम करेगी। संभव है, इस विचार से महाशतक ने रेवती को घर से न निकाला होगा। उन्होंने स्वयं ही विरक्त होकर श्रावक प्रतिमा ग्रहण कर ली। फिर भी वे गृहस्थाश्रम को त्याग न सके, अतः रेवती के साथ रहने से संवासानुमोदन पाप से वे बच नहीं सकते थे। इसलिये दो करण, तीन योग से ही उन्होंने व्रत लिये। गृहस्थ श्रावक अपना जाति से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता और न जाति के लोगों के लिए वह इस बात का जिम्मा ले सकता है कि वे लोग न स्थूल हिंसा करेंगे और न करायेंगे। जो हिंसा करते-कराते हैं, उनके साथ सम्बन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखने से अनुमोदन का पाप लगता ही है। इस बात को लक्ष्य में रखकर गृहस्थ दो करण तीन योग से त्याग करता है। इस प्रकार का त्याग करने से गृहस्थ के संसार-व्यवहार में बाधा नहीं आती।

प्राथमिकता की दृष्टि से श्रावक पहले हिंसादि पाप स्वयं करने का त्याग करता है, फिर कराने का त्याग करता है और अनुमोदन करने की छूट रखता है। पाप का आचरण स्वयं करने की स्थिति में संक्लिष्टता की संभावना विशेष हो सकती है। दूसरों के द्वारा हिंसादि कार्य कराने में परिणामों में उतनी अधिक तीव्रता या संक्लिष्टता की संभावना प्रायः नहीं रहती है। अनुमोदन में यह तीव्रता और कम हो जाती है। इस दृष्टि से शास्त्रकारों ने प्राथमिकता का उक्त क्रम निर्धारित किया है। परन्तु यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है। अल्पपाप या महापाप का दारोमदार करने-कराने या अनुमोदन पर उतना निर्भर नहीं है जितना विवेक या अविवेक पर निर्भर है। जहाँ विवेक है वहाँ अल्प पाप है और जहाँ विवेक नहीं है वहाँ अधिक पाप है। अल्पपाप और अधिक पाप विवेक-अविवेक पर अवलम्बित है।

जैन जगत् के महान् ज्योतिर्धर स्वर्गीय श्री जवाहराचार्य के समय में समाज ने यह प्रश्न उठा था कि हलवाई के यहाँ से सीधी चीजें लाकर खाने में कम पाप है या घर में बनाकर खाने में कम पाप है? आरंभ करने में ज्यादा पाप है या कराने में अधिक पाप है या अनुमोदन में अधिक पाप है? स्वर्गीय आचार्य श्री ने इस संबंध में प्रतिपादित किया कि इस विषय में कोई एकान्त पक्ष नही हो सकता। कभी करने में ज्यादा पाप हो जाता है, कभी कराने में ज्यादा पाप हो जाता है और कभी अनुमोदन में ज्यादा पाप हो जाता है। अल्प पाप या महापाप का आधार विवेक-अविवेक और भावनाओं पर आधारित है।

स्व. श्री जवाहराचार्य ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया कि "जो काम महारम्भ से होता है वही काम विवेक होने पर अल्पारंभ से भी हो सकता है, और जो काम अल्पारंभ से हो सकता है वही अविवेक के कारण महारम्भ का बन जाता है।" इस विषय में स्व. आचार्यश्री ने अपनी गृहस्थावस्था के एक प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार किया-

"जब मेरी आयु करीब दस-बारह वर्ष की थी उस समय की यह घटना है। मेरा गाँव मक्की प्रधान क्षेत्र था। जब अच्छी मक्की की फसल होती तो उस क्षेत्र के लोग प्रसन्नता प्रकट करते थे। गोठ-गुगरियाँ करते थे। इसी संदर्भ में गाँव के प्रतिष्ठित लोगों ने मिलकर गोठ का आयोजन किया। मक्की के भुजिये बनाने का विचार किया। साथ ही भंग के भुजिये भी बनाने की बात हो गई। मेरे मामाजी ने मुझसे कहा कि बाड़े में भांग के पौधे खड़े हैं, उनमें से भंग की पत्तियाँ तोड़ लाओ। उस समय भंग के विषय में आज की तरह का कायदा न था। इसलिये जगह-जगह उसके पौधे होते थे। मेरे मामाजी प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, राज्य में भी उनका सम्मान था और वे धर्म का भी विचार रखते थे। उनके कहने पर मैं दौड़ गया और खोला (गोद) भर कर करीब सेर भर भंग तोड़ लाया। वे मुझसे कहने लगे कि "इतनी भंग क्यों तोड़ लाया? थोड़ी सी भंग की जरूरत थी।" इस तरह थोड़ी-सी भंग की जगह बहुत भंग लाने के कारण वे मुझे उलाहना देने लगे। लेकिन वास्तव में मेरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही कसूर था या उनका भी? वह अधिक पाप मेरे को ही हुआ या उनको भी? मैं बच्चा था, इससे मुझमें विवेक नहीं था और न उन्होंने कहा था कि कितनी लाना। इस तरह न उन्होंने विवेक दिया और न बच्चा होने के कारण मुझमें विवेक था। इस तरह अधिक पाप का कारण अविवेक रहा। यदि विवेक होता तो वह अधिक पाप क्यों होता? इसलिये पत्ता तोड़ने का कार्य करने के बजाय कराने में अधिक पाप हुआ, क्योंकि यदि वे अपने हाथ से पत्ते तोड़कर लाते तो जितनी आवश्यकता थी उतने ही लाते, अधिक नहीं।

विवेक के अभाव में, अल्प पाप होने की जगह महापाप होने के और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। कोई सेठ श्रावक जंगल गये। वहाँ नौकर से पानी भर कर लाने को कहा। वह हरी वनस्पति फूलन आदि कुचलता हुआ दौड़ गया और लौटा मांज कर जलाशय में धोकर जैसा-तैसा छना-अनछना पानी भर लाया। अब यह अधिक पाप किसको हुआ? क्या यह पाप करने वाले को ही हुआ, कराने वाले को नहीं? यदि सेठजी स्वयं पानी भरने जाते तो और विवेक से काम लेते तो कितना पाप टाल सकते थे? वह नौकर सेठ का भेजा हुआ गया था इसलिये क्या सेठ को उसका पाप नहीं लगा? इस तरह करने की अपेक्षा दूसरे से कराने में ज्यादा पाप हो गया।

जैनधर्म के प्रवर्तक क्षत्रिय थे और यह धर्म इतना व्यापक है कि प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति इसका पालन कर सकता है। इस धर्म को राज्य करने वाले शासक भी पाल सकते हैं। उदायन राजा सोलह देश का राज्य करते थे फिर भी वे अल्पारंभी कहे गये हैं। इतना बड़ा राज्य संभालते हुए भी वे अल्पारंभी रहे, इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि वे श्रावक होने के कारण विवेक से काम लेते थे। भगवान् ने विवेक में धर्म बताया है। यदि ऐसा न होता तो यह धर्म केवल बनियों का ही रह जाता, क्षत्रियों के पालन योग्य न रहता। विवेकपूर्वक कर्त्तव्य पालन करता हुआ राजा भी, अल्पारंभी हो सकता है। इस तरह कभी करने में ज्यादा पाप हो जाता है, कभी कराने में ज्यादा पाप हो जाता है और कभी अनुमोदना में ज्यादा पाप हो जाता है। विवेक न रखने से, करने-कराने में भी उतना पाप नहीं होता जितना अनुमोदना से हो जाता है। यह बात निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है-

मान लीजिये एक राजा जैन है। उसके सामने एक ऐसा अपराधी लाया गया जिसने फाँसी की सजा के योग्य अपराध किया था। वह राजा सोचने लगा कि मैं चाहता हूँ कि यह अपराधी न मारा जाए, परन्तु यदि इसके अपराध की भयंकरता को देखते हुए फाँसी की सजा न दूँगा तो न्याय का उल्लंघन होगा। इस तरह उसने न्याय के रक्षण हेतु बड़े संकोच भाव से उस अपराधी को फाँसी की सजा सुनाई। फाँसी लगाने वाला उस अपराधी को फाँसी के स्थान पर ले गया। वह भी अपने मन में सोचता था कि यह फाँसी लगाने का काम बुरा है। मैं नहीं चाहता कि किसी को फाँसी लगाऊँ, परन्तु राज्य की नौकरी करता हूँ, अतः उसकी आज्ञा मानना मेरा कर्त्तव्य है। राजा भी न्याय से बँधा हुआ है, मैं भी कर्त्तव्य से बँधा हुआ हूँ, अतएव विवश होकर यह काम करना पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वहाँ एक तीसरा व्यक्ति खड़ा था। उसे किसी तरह का आदेश देने का अधिकार नहीं था, उसकी आज्ञा चल भी नहीं सकती थी, फिर भी खड़ा-खड़ा अति उमंगवश कहता है कि "क्या देखता है? लगा न इसको फाँसी? क्यों देर करता है? इसे तो फाँसी पर लटकाना ही अच्छा है।"

अब उक्त तीनों व्यक्तियों में से अधिक पाप किसको हुआ? राजा और फाँसी लगाने वाला फाँसी का काम करने-कराने पर भी उस फाँसी के काम की सराहना नहीं करते हैं, लेकिन वह तीसरा व्यक्ति मुफ्त ही फाँसी लगाने के काम की सराहना करके अनावश्यक आज्ञा देकर महापाप कर रहा है।

फाँसी लगाने के स्थान पर और भी दर्शक लोग थे। उनमें से जो विवेकी थे वे तो सोचते थे कि यह बेचारा पाप के कारण ही फाँसी पर चढ़ रहा है। यदि इसने अपराध न किया होता तो क्यों फाँसी लगती? इसलिये हमें भी पाप से बचना चाहिये। जो दर्शक अविवेकी थे, वे कह रहे थे कि अच्छा हुआ जो इसे फाँसी लगी। यह बड़ा ही दुष्ट था, पर चतुर नहीं था। हम कैसे चतुर हैं कि अपराध भी कर लेते हैं और राज्य या अन्य किसी की पकड़ में भी नहीं आते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के दर्शकों में से महापापी कौन और अल्पपापी कौन? स्पष्ट है कि अविवेकी दर्शकों ने महापाप का बँध किया है। इससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिये कि कराने से ही महापाप होता है, करने अथवा अनुमोदन से नहीं या करने से ही महापाप होता है, कराने या अनुमोदन से नहीं। निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँ अविवेक है वहाँ महापाप है और जहाँ विवेक है वहाँ अल्प पाप है। एक उदाहरण द्वारा यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

एक डॉक्टर ऑपरेशन करने में कुशल है लेकिन यह कहता है कि मुझे घृणा आती है इसलिये मैं तो ऑपरेशन नहीं करता अथवा प्रमादवश वह कम्पाउन्डर को ऑपरेशन करने के लिये कहता है। कम्पाउन्डर अनाड़ी है, अकुशल है। ऐसी हालत में वह डॉक्टर स्वयं ऑपरेशन न कर कम्पाउन्डर से करावे तो उस डॉक्टर को कराने में ही महापाप लगेगा। एक-दूसरा जो स्वयं ऑपरेशन करना नहीं जानता या कम जानता है वह किसी दूसरे कुशल डॉक्टर से ऑपरेशन करने को कहता है तो उसको कराने में भी अल्प पाप होगा। ऑपरेशन तो दोनों ने दूसरों से कराया, दोनों ने स्वयं नहीं किया, किन्तु पहले डॉक्टर को महापाप लगेगा और दूसरे को अल्प लगेगा। इसी तरह कोई तीसरा व्यक्ति स्वयं ऑपरेशन करना नहीं जानता है लेकिन जो जानता है उसे रोक कर स्वयं ऑपरेशन करे तो उसको महापाप लगेगा। ऐसे अनजान अनाड़ी व्यक्ति के द्वारा किया हुआ ऑपरेशन कदाचित् सुधर भी जाय तो भी वह पाप का भागी होगा और अनधिकृत काम करने के कारण सरकार भी उसे अपराधी मानेगी। उस पहले डॉक्टर को कराने पर भी महापाप लगा, दूसरे को कराने पर भी अल्प पाप लगा और तीसरे को स्वयं करने पर भी महापाप लगा। इसका कारण यही है कि इन तीनों में विवेक का अन्तर है।

अब करने, कराने और अनुमोदन में से किसमें पाप अधिक हो सकता है, यह विचारें। कोई व्यक्ति

Jain Education International | For Private & Personal Use Only | www.jainelibrary.org

स्वयं हाथ से आरंभ करने लगे तो कितना भी करे, वह मर्यादित ही होगा। लेकिन कराने में तो लाखो-करोड़ों से भी करने के लिये कहा जा सकता है। करने में तो दो ही हाथ लगते हैं, परन्तु कराने में लाखों-करोड़ों हाथ लग सकते हैं। करने का समय भी मर्यादित होगा परन्तु कराने में तो समय का भी विचार नहीं रह सकता। करने का क्षेत्र भी मर्यादित होगा, परन्तु कराने का क्षेत्र व्यापक होता है। इस तरह करने का द्रव्य, क्षेत्र और काल मर्यादित होता है जबकि कराने का द्रव्य, क्षेत्र और काल बहुत व्यापक होता है। इस कारण स्वयं करने की अपेक्षा कराने से पाप ज्यादा खुला रहता है। अब अनुमोदन को लीजिये - काम कराने में भी कोई व्यक्ति चाहिये ही, परन्तु अनुमोदन तो यहाँ बैठे हुए ही सारे जगत् के पापों का हो सकता है।

आज के विज्ञापनबाजी के युग में यहाँ बैठे हुए ही दुनियाँ भर के कामों की और आरंभों की अनुमोदना की जा सकती है। भले ही वह वस्तु उपलब्ध न हो तो उसकी प्रशंसा या अनुमोदना तो की जा सकती है। इस तरह अनुमोदन का द्रव्य, क्षेत्र, काल करने-कराने से भी बढ़ जाता है। अनुमोदन का पाप ऐसा होता है कि बिना कुछ किये ही महारम्भ का पाप हो जाता है। इसके लिए भगवती सूत्र के २४वें शतक में अंगुल के असंख्यातवें भाग अवगाहन वाले तंदुलमच्छ का उदाहरण दिया गया है। तंदुलमच्छ ने स्वयं मछलियों की हिंसा नहीं की, नहीं कराई लेकिन उसने केवल दुर्भावना की- यदि इस मत्स्य की जगह मैं होता तो सब मछलियों को खा जाता, एक को भी बाहर नहीं निकलने देता। ऐसी दुष्ट भावना के कारण वह छोटा-सा मत्स्य, मछलियों की हिंसा न करने, कराने पर भी हिंसा के अनुमोदन के कारण सातवीं नरक में गया। इस तरह करने और कराने की अपेक्षा अनुमोदन का क्षेत्र बड़ा है।

कर्मबंध का मुख्य आधार मन होता है। क्रिया समान होने पर भी मनोभावना में अन्तर रहता है। एक व्यक्ति जिन नेत्रों से अपनी बहन को देखता है उन्हीं नेत्रों से अपनी पत्नी को भी देखता है, परन्तु मनोभावना का अन्तर रहता है। बिल्ली अपने मुँह में अपने बच्चे को भी पकड़ती है और चूहे को भी पकड़ती है, परन्तु दोनों की पकड़ में मनोभावना का अंतर रहता है अतएव कर्मबंध का मुख्य आधार मनोभावना है-अध्यवसाय है।

कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों ने तो मन-वचन-काय तीनों को कर्मबंध का कारण कहा है, फिर मन को ही क्यों मुख्य आधार माना जाय? इसका समाधान यह है कि वचन और काय के साथ भी तो मन रहता है। अतएव मन की मुख्यता मानी जाती है।

सारांश यह है कि किसी समय करने में पाप ज्यादा होता है, और कराने में कम होता है। कभी कराने में ज्यादा होता है। यह बात विवेक-अविवेक पर निर्भर है। हाँ, यह आवश्यक है कि करने की अपेक्षा कराने का द्रव्य, क्षेत्र, काल ज्यादा है और कराने की अपेक्षा अनुमोदना का ज्यादा है। यही बात पुण्य और धर्म के लिए भी है। प्रत्येक काम में विवेक की आवश्यकता है। विवेक न होने पर अविवेक के कारण अल्पारंभ भी महारम्भ बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि जब पाप का कारण अविवेक ही ठहरा तब यदि करने वाला और जिससे कराया जावे वे दोनों ही विवेकी और उस दशा में स्वयं न करके उस दूसरे से जो कि विवेकी है, कराया जाय तो क्या आपत्ति है? उस दशा में तो कराने में ज्यादा पाप न होगा? फिर चाहे कराया जावे या किया जावे तो समान ही होगा? इसका उत्तर यह है कि विवेक की अपेक्षा तो कराने में ज्यादा पाप नहीं लगेगा, लेकिन कराने में करने की अपेक्षा जो द्रव्य-क्षेत्र-काल ज्यादा खुला हुआ है, उसका पाप तो ज्यादा लगेगा ही। इस विषय में विशेषतः विवेक और मन के भावों पर ही अधिक आश्रित रहना पड़ता है।

एक प्रश्न यह हो सकता है कि गृहस्थ जब सामायिक में बैठता है तब वह करने-कराने का ही पाप त्यागता है। जब अनुमोदना का पाप ज्यादा है तो उसका त्याग क्यों नहीं करता? बड़े पाप का त्याग क्यों नहीं किया जाता? इसका उत्तर यह है कि अनुमोदना का पाप त्यागने की शक्ति न होने के कारण ही इसका त्याग नहीं कराया जाता। प्रत्येक काम अपनी शक्ति के अनुसार ही होता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि करने-कराने की अपेक्षा अनुमोदना का पाप छोटा है। अतएव एकान्त आग्रह को छोड़कर तटस्थ भाव से वस्तु तत्त्व का विचार करना चाहिये।

-'जिणधम्मो' पुस्तक से साभार

Jain Education International | For Private & Personal Use Only | www.jainelibrary.org